शोधामृत
(कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ISSN : 3048-9296 (Online)
3049-2890 (Print)
IIFS Impact Factor-4.0
Vol.-3; issue-1 (Jan.-March) 2026
Page No- 27-33
©2026 Shodhaamrit
https://shodhaamrit.gyanvividha.com

Author's :
डॉ. तुलसी छेत्री
गुवाहाटी, असम.

Corresponding Author :
डॉ. तुलसी छेत्री
गुवाहाटी, असम.

साहित्यिक पत्रिका 'हंस' में प्रकाशित कहानियों में दलित विमर्श (संदर्भ 1990-2010 तक)

सार : हिंदी साहित्य में दलित विमर्श का उदय केवल एक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय समाज में व्याप्त गहरी सामाजिक विषमता, जातिगत भेदभाव और ऐतिहासिक अन्याय के विरुद्ध उभरे व्यापक सामाजिक-राजनीतिक चेतना के आंदोलन के रूप में देखा जाना चाहिए। दलित विमर्श ने उस साहित्यिक परंपरा को चुनौती दी, जो लंबे समय तक वर्चस्ववादी दृष्टिकोण से संचालित रही और जिसमें दलित जीवन की वास्तविक पीड़ा, संघर्ष और अनुभवों को या तो उपेक्षित किया गया या सहानुभूति की सीमित दृष्टि से देखा गया।

1990 के बाद का कालखंड भारतीय सामाजिक संरचना में निर्णायक परिवर्तन का समय रहा है। मंडल आयोग की सिफ़ारिशों के क्रियान्वयन, सामाजिक न्याय की राजनीति के उभार, तथा हाशिए पर पड़े वर्गों की अस्मिता-चेतना के सशक्त होने से साहित्य भी अछूता नहीं रहा। इस दौर में दलित समाज ने केवल अपने शोषण की कथा कहने तक स्वयं को सीमित नहीं रखा, बल्कि आत्मसम्मान, अधिकार और समानता की माँग को साहित्य के माध्यम से मुखर रूप में प्रस्तुत किया। परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य में दलित अनुभव केंद्र में आने लगे और साहित्य की भूमिका सामाजिक हस्तक्षेप के रूप में पुनर्परिभाषित हुई।

इसी ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में साहित्यिक पत्रिका 'हंस' का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'हंस' ने अपने संपादकीय दृष्टिकोण के माध्यम से दलित विमर्श को मुख्यधारा के साहित्यिक विमर्श में स्थान प्रदान किया। यह पत्रिका केवल रचनाओं के प्रकाशन का माध्यम नहीं बनी, बल्कि बहस, असहमति और वैचारिक मंथन का सशक्त मंच भी बनी। 'हंस' में प्रकाशित कहानियाँ दलित जीवन की जटिलताओं, सामाजिक अपमान, आर्थिक शोषण, जातिगत हिंसा और संस्थागत भेदभाव को यथार्थवादी और निर्भीक ढंग से प्रस्तुत करती हैं।

इन कहानियों की विशेषता यह है कि वे दलित पात्रों को मात्र सहानुभूति के पात्र के रूप में नहीं, बल्कि चेतनासंपन्न, संघर्षशील और

प्रतिरोधी व्यक्ति के रूप में स्थापित करती हैं। दलित जीवन की पीड़ा के साथ-साथ इन रचनाओं में प्रतिरोध की चेतना, आत्मसम्मान की आकांक्षा और सामाजिक परिवर्तन की स्पष्ट आकृति दिखाई देती है। इस प्रकार 'हंस' में प्रकाशित कहानियाँ न केवल साहित्यिक दस्तावेज़ हैं, बल्कि सामाजिक इतिहास की साक्षी भी हैं।

अतः 1990 से 2010 के बीच 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित दलित कहानियों का अध्ययन न केवल हिंदी साहित्य में दलित विमर्श की दिशा और स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है, बल्कि यह अध्ययन भारतीय समाज में घटित सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों को समझने का भी महत्त्वपूर्ण माध्यम प्रदान करता है।

बीज शब्द : दलित विमर्श, हिंदी साहित्य, साहित्यिक पत्रिका 'हंस', दलित कहानियाँ, सामाजिक न्याय, अस्मिता, प्रतिरोध, जातिगत भेदभाव, हाशिए का समाज, यथार्थवाद, सामाजिक चेतना, समकालीन हिंदी साहित्य।

मूल आलेख : दलित साहित्य में कहानी लेखन सबसे अधिक चर्चित विधा रही है। दलित साहित्यकारों द्वारा अपनी यंत्रणाओं, जातिगत भेदभाव, उत्पीड़न, आक्रोश को अभिव्यक्त करने के लिए इस सशक्त माध्यम को चुना। तमाम वर्जनाओं को निषेध करते हुए अपने जीवन के भद्दे रूप, कटु सत्यों को ज्यों का त्यों कहानियों में प्रस्तुत किया। इन कहानियों द्वारा दलित न केवल स्वयं की दमघोंटू व्यथा कथा लिखता हैं बल्कि सामुदायिक स्मृतियों को परत दर परत उधेड़ कर रखता है जिसका इतिहास बहुत पुराना है। दलित कथाओं में व्यक्ति विशेष न होकर समुदाय-विशेष है स्वयं चेतना संपन्न होने पर दलित लेखक उस परिवर्तन कामी चेतना का प्रसार करना चाहता है इसी क्रम में उसकी आत्मकथा लिखी जाती है।

किसी समुदाय को इस तरह से पराजित और हताश बना देना की वो सैकड़ों वर्षों तक उसी दल-दल में रहे और शिक्षा से वंचित अपनी पीड़ा को अभिव्यक्ति भी प्रदान न कर सके। वहीं सामंती प्रवृत्ति का वर्चस्ववाद इतना रौबदार रहे की सुदीर्घ लेखन में इनकी पीड़ा का कहीं उल्लेख किये जाने लायक तक न समझा गया हो। इसी पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को दलित आत्मकथाकार, दुबारा उसी पीड़ा का अनुभव केवल इसलिए करता है ताकि जीवन की त्रासदी को गति प्रदान हो इसके साथ ही ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्ति में स्थान नहीं पा सके उन्हें केंद्र में लाया जा सके।

प्रकाशित कहानियाँ : दलित कहानी की वैचारिक बनावट मुक्तिकामी आंदोलनों और विचारों से हुई जिसने दलित कथाकारों के अनुभव को कहानी की शक्ल में विशाल जनसमुदाय तक पहुँचाया। इन दलित कहानियों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है की दलितों ने मुख्यधारा के लेखन के समानान्तर अपनी जातीय संस्कृति, सामाजिक संघर्ष और पारम्परिक वर्ण एवं जाति केन्द्रित सामाजिक व्यवस्था में अपना अस्तित्व तलाशने का प्रयास किया है।

सं.1992 दिसम्बर अंक में 'हंस' पत्रिका में ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'बैल की खाल' प्रकाशित हुई जिसे उनकी आत्मकथा 'जूठन' का अंश भी कहा जा सकता है।'बैल की खाल' कहानी दो दलित चरित्र काले और भूरे की हैं जो पेशे से मरे हुए जानवरों की खाल बेच कर अपना गुज़ारा करते हैं। दोनों ही गरीबी का जीवनयापन करते हुए भी मानवीयता के पक्षधर हैं। गरीबी और भूख के बीच भी उनके भीतर की मनुष्यता जस की तस बनी रहती है। कहानी की शुरुआत पंडित बिरिज मोहन के बैल की मौत की खबर से हुई जो काले और भूरे के लिए शुभ संवाद की तरह थी। वैसे तो समस्त गाँव के लिए काले और भूरे सबसे अधम, उपेक्षित और अपवित्र प्राणी थे मगर गाँव में किसी जानवर के मरते ही वो सबसे महत्त्वपूर्ण हो जाते, इसके विपरीत पालतू जानवर मरते ही अछूत हो जाता है – "जब तक बैल जीवित था तो कोई बात नहीं। कल तक अन्न उगाने वाला बैल मरते ही अपवित्र हो गया। जिसे छुना तो दूर उसके पास खड़े होना भी किसी पाप से कम नहीं था।"[1]

कहानी आगे बढती है, काफी इंतज़ार के बाद काले और भूरे को आते देख बिरिज मोहन उन पर बिफर पड़ा- "कहाँ मर गए थे भोसड़ी के .....इस बैल को कौन उठावेगा तुम्हारा बाप ?"[2] इतनी गालियों को सुनकर भी दोनों बिना किसी प्रतिक्रिया के मरे बैल को उठाने में जुटे रहते हैं अर्थात अब इस तरह के अपशब्दों के वो आदि हो

चुके हैं। शाम होने से पहले ही वो बैल की खाल लेकर शहर की ओर निकल जाते हैं चूँकि खाल जल्दी गंधियाने लगेगी. काले और भूरे चाहते तो शहर के लाला(जिसे वो खाल बेचते हैं) के कहे अनुसार वो पुडिया ले आते। जिसे जानवर खाते ही मर जाते और वो खाल बेच कर अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार ला सकते थे, मगर लाला की इस बात पर दोनों के ह्रदय में लाला के प्रति नफरत उमड़ पड़ी- "और वो सहर का लाला... सौ बातें सुणावे है. पिछली बार जब वह भैंस की खाल लेके गए थे तो क्या कह रहा था –'यह पुड़िया ले जाओ। जिस जानवर को खिलाओगे टें बोल जायेगा। वह सरकारी डॉक्टर कुछ नहीं कर पायेगा ...पूरा राक्षस है राक्षस वह लाला।"[3] काले जब भूरे के समक्ष इस काम को छोडने का प्रस्ताव रखता है तो भूरे का तर्क अब भी गाँव वालों के हित में होता है - "क्यूँ..जो हमने इस काम को छोड़ दिया तो करेगा कोण? क्या मरे ढोर-डंगर गाँव में ही पड़े सड़ते रहेंगे।"[4] काले जहाँ शहर जा कर कमाई करने की बात करता हैं, भूरे वही अपने बेटे छुटकू को गाँव के स्कूल में दाखिला दिलवाना चाहता है। इन्हीं सब बातों के दौरान झुण्ड से बिछड़ी एक बछड़ी सड़क के बीचों बीच ट्रक कुचल दी जाती है। बछड़ी का दर्द से तड़पना इन्हें विचलित कर देता है ये डॉक्टर बुलाने जाने लगते हैं (उसी डॉक्टर के पास जिसके बारे में कुछ देर पहले वो कह रहे थे गाँव में डॉक्टर अर्थात विज्ञान के आने से उनके पेट में लात पड़ गयी) तब तक बछड़ी दम तोड़ देती है। बछड़ी के यूँ मर जाने पर दोनों दुखी हो जाते हैं, उन्हें अब इस बात की फिक्र नहीं की दो महीने बाद मरे इस बैल की खाल को बेचकर वो सौदा-सुलफ ला सकते थे। काले, भूरे को वहीं बैठने की हिदायत दे कर गाँव में ये खबर देने जाता हैं मगर जाने से पहले चादर में बंधी खाल जो अब गंधियाने लगी थी को एक बार देख कर लम्बी सांस लेता है।

यह संपूर्ण कहानी दलितों की नारकीय स्थिति को उद्घाटित करती हैं। परम्परागत व्यवसायों को करने के सिवा इनके पास कोई और विकल्प नहीं। ऐसे परम्परागत व्यवसाय दलित जीवन के दुखों और समस्याओं पर अधिक नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। यह कहानी प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' के पात्र घीसू और माधव को चुनौती देती हैं जहाँ बुधिया के कफ़न के पैसों से वो पूरियां और शराब खरीद पाठकों की नज़रों में असंवेदनशील करार कर दिए जाते हैं, वही वाल्मीकि पात्र काले और भूरे तर्क और संवेदना का निर्माण करते हैं। आर्थिक तंगी, गरीबी भूख की परवाह किये बगैर ये दोनों नैतिकता से समझौता नहीं करते। सामाजिक उत्पीड़न और अभाव से भी इस कहानी के पात्र विचलित हुए बगैर जीवन के मूल्यों के प्रति सकारात्मक भाव रखते हैं।

'हंस' पत्रिका में प्रकाशित ओमप्रकाश वाल्मीकि की अन्य दलित कहानियों में **'प्रमोशन'** कहानी का प्रकाशन सं.1997 के अगस्त-सितम्बर अंक में हुआ। कहानी के माध्यम से वाल्मीकि ने इस सत्य को स्थापित करने का प्रयास किया की समाज में भिन्न प्रकार के वर्ण (दलित) में पैदा होने के कारण एक ही समाज में रहते हुए भी दलित अछूत होने की पीड़ा से गुज़र रहें हैं। थोपे हुए पेशे से उनकी पहचान हैं, उनकी पहचान, उनका ओहदा भी जन्मजात से उनको रिहाई देने में असफल है। उससे न छुट पाने की छटपटाहट इस कहानी के माध्यम से हमारे सामने आती हैं। ये अस्तित्व के पहचान की अकुलाहट सदियों से चुप्पियों के साथ दलितों के साथ हैं और जब कभी भी इससे अलग होने की राह उन्हें दिखती है तो वो स्थिति ऊपर उठने के लिए जी जान लगा देते हैं।

कहानी की शुरुआत दलित स्वीपर सुरेश के प्रमोशन से होती है जहाँ वो खुश क्योंकि आज उसकी पदोन्नति हो गई है वो स्वीपर से अकुशल कामगार (मजदूर) बन गया है। उसे इस बात की ख़ुशी है वह भंगी जैसे पेशे से अलग अब अन्य मजदूरों की तरह मजदूर यूनियन में हिस्सेदारी करेगा और 'इनक़लाब जिंदाबाद' के नारे लगाएगा। हालांकि उसकी तनख्वाह में तनिक भी इजाफा नहीं हुआ है और पत्नी शांति द्वारा इजाफे के बारे में सुरेश उसे जवाब में कहता है –"तू, हमेशा पैसों के बारे में ही सोचेगी मान-अपमान भी कुछ होता है। अरे पगली, अब हम भंगी नहीं रहे. मजदूर हो गए हैं।" 'मजदूर' पर उसने कुछ ज्यादा ही जोर देकर कहा था "देखा नहीं था ..मई दिवस पर कितना लम्बा जुलूस निकला था। उसमें सब मजदूर- ही- मजदूर थे.... कैसे-कैसे नारे लग रहे थे.. इंकलाब जिंदाबाद ..मजदूर-मजदूर भाई-भाई..जब मैं भी उस रैली जाऊंगा..लाल झन्डा उठाकर सबसे आगे चलूँगा .... इंकलाब जिंदाबाद..उसके भीतर गहरा आत्मविश्वास भर गया था, मानो लाल झंडे का रंग उसकी आँखों में उतर

आया हो।"[5] धीरे-धीरे वो यूनियन के कामों में हिस्सेदारी लेने लगता है पंडाल लगाना, पोस्टर चिपकाना, बैनर बांधना आदि यूनियन लीडर के एक बार उसे कामरेड कह कर उसे संबोधित करने मात्र से वो अकेले ही देर रात तक सारा काम निपटा लेता है। जबकि उसे कामरेड का आशय भी नहीं समझ आता। बहुत जल्द ही सुरेश का भंगी से मजदूर होने का भ्रम टूट जाता है, जब उसके लाये हुए दूध को कोई अन्य मजदूर लेने नहीं आते। उसके ही सामने मजदूर-मजदूर भाई-भाई का नारे का खोखलापन सामने आ जाता है।

इन कहानियों अतिरिक्त ओमप्रकाश वाल्मीकि की और भी अन्य कहानियाँ विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं जिनमें प्रमुख हैं- 'वसुधा' पत्रिका के मार्च 1996 के अंक में दलित कहानी 'अम्मा', कथादेश पत्रिका में 2006 के नवम्बर अंक में'छतरी' 2006 अगस्त हंस के अंक में 'रिहाई', अप्रैल 2007 हंस के अंक 'प्राइवेट वार्ड' का प्रकाशन हुआ। इन सभी कहानियों ने अपने जीवन और समाजबोध को दर्ज किया। शिक्षा और सांस्कृतिक विकास की अनुपस्थिति के कारण सार्वजनिक दुनिया में खुद की पहचान न बना पाने की असमर्थता इन कहानियों में परिलक्षित होती है।

हिन्दी कहानी में अनेक तरह के उतार-चढ़ाव और आंदोलन से अलग दलित कहानी बदलते सामाजिक प्रतिरोध के यथार्थ का चित्रण करती है। दलित कहानियों के दूसरे दौर में सामाजिक परिवर्तन की गूँज सुनाई देती है। सजग दलित का चित्रण और बदलाव को रेखांकित करती रत्न कुमार सांभरिया की कहानी **'बिपर सूदर एक कीने'** का प्रकाशन हंस पत्रिका के जुलाई 2007 के अंक में हुआ। रत्न कुमार सांभरिया की ये कहानी रुढ़िवादिता के विरुद्ध विद्रोह करती हैं। इस कहानी का मुख्य पात्र श्यामू चमार बस्ती में चमड़े का काम करता है। गाँव के लोग गंगाजल हाथ में लेकर सूत का डोरा पहन कसम लेते हैं की वो अब कभी चमड़े का काम नहीं करेंगे इस काम के कारण ही उन्हें अछूत माना जाता है, लेकिन श्यामू उनसे बेटे की पढाई ख़तम होने तक की मोहलत मांगता है क्योंकि उसके पास कोई और आय का स्त्रोत नहीं है। इस तरह वह अपने भाई और गाँव की नज़रों में छोटी जात का रह जाता है।

श्यामू के बेटे का चयन राज्य पुलिस में होते ही सबका रवैया उसके प्रति बदल जाता है साथ ही श्यामू के रहन सहन में खासा फर्क पड़ता है- "शोहरत सयानापन तो लाती ही है मैं की ठे भी पैदा कर देती हैं। दो किताब पढ़े श्यामू लाल में आठ किताब सी समझ घनीभूत हो गयी थी, बोलचाल में संभ्रातता आ गयी थी। कद्दावर लगते थे श्यामू, सामू, श्यामुलाल भाईसाब, चाचा जी ताऊ जी थे, गर्ज़खोर तो उन्हें, चौधरी जी कहकर मान देने लगे थे।"[6]

आर्थिक रुप से सृदृढ़ होने पर जाति भी क्षीण होने लगती है। अंत: गाँव का पुजारी अपनी साली की शादी श्यामू के बेटे से तय कर देता है। सांभरिया की ये कहानी दलित कहानियों में बदलाव को रेखांकित करती है, पद और पैसा जाति को भी दरकिनार करने की क्षमता रखता है। सत्ता और पद अस्पृश्य को सम्मानित बना देते हैं और कहानी में चमार को चौधरी के नाम से संबोधित किया जाता हैं, पंडित स्वयं जाति का दंभ भूल जाते है और कुछ समय पहले तक जिसे अछूत मानते थे उससे रिश्ता जोड़ने की बात करते हैं ।

सांभरिया की कहानी के पात्र अस्तित्व के संकट से दूर है उनमें अधिकारों की लड़ाई पहले के मुकाबले कुछ कम नज़र आती है। शिक्षा के प्रकाश में वह अब अस्मिता और सम्मान के लिए संघर्षरत हैं। एक बार पुन: यह स्थापित होता है की सत्ता के आगे जाति नहीं टिकती, वह एक संबोधन मात्र बन कर रह जाती हैं जिसका होना न होना बेमायने हो जाता है- "श्यामू पहले मंदिर की सीढ़ियों तक नहीं जाते थे, आज सीधी डग भरी और पहली सीढी पर पुजारी से रुबरु थे। दूसरे दिन जब वे मंदिर के सामने से गुज़र रहे थे तो पुजारी ने उन्हें फिर बुलाया। आज वे दूसरी सीढी पर खड़े पुजारी से बतिया रहे थे। तीसरे दिन वे तीसरी सीढी पर थे। चौथे दिन उन्होंने एक के बाद एक चार डगें भरी और मंदिर की चौथी सीढी पर थे। पुजारी ने हाथ का संकेत कर उन्हें अपने पास चटाई पर बैठा लिया था कहने लगा "श्यामू धंधा छोड़ दिया, जात मिट गई। लड़का बड़ा अफसर बन गया, जात बड़ी बन गई।"[7]

सांभरिया की कहानियों को केवल दलित कहानी के नजरिए से देखना उनकी कहानियों के प्रति अन्याय होगा, ये कहानियाँ पाठकों के समक्ष दलित जीवन की आतंरिक सच्चाइयों एवं उधेड़बुन को समाज को उद्घाटित

करती है। इनकी कहानियां त्रासदी भरे जीवन की ऊब से हटकर आशा और कुछ हासिल करने की ओर प्रयासरत हैं। इनके पात्रों का भोगा हुआ नारकीय जीवन केवल व्यथा गाथा नहीं सुनाता बल्कि उससे बाहर निकल कर उसी समाज में स्वयं को स्थापित भी करता है।

दलित साहित्य को आधुनिक रूप में स्थापित करने वालों में दलित साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। हिन्दी साहित्य में इनकी छवि दलित साहित्य के प्रतिनिधि लेखक और विमर्शकार के रूप में प्रतिष्ठित है। इनकी कहानियों में जातिवाद के साथ सामंतवाद के प्रति विद्रोह दिखाई देता है। अनेक दलित साहित्यकारों ने जातिगत सवालों के साथ सरकारी महकमों की कार्यप्रणाली और सरकारी अफसरों रवैये पर प्रश्न उठाया है। फिर चाहे वो अफसर सवर्ण हो या दलित। दलित हर तरफ बदलाव के लिए संघर्षरत है। जब कोई दलित ऊँचे ओहदे पर नियुक्त होकर आता है तो निम्न स्तर पर नियुक्त दलित एक ही जात की भावना से बहुत सी आशाएं उस अफसर से बाँध लेता है।

इस बात को दर्शाती मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'सिमटा हुआ आदमी', हंस पत्रिका(1996) के मई अंक में प्रकाशित हुई। इस कहानी का मुख्य पात्र भोला राम दलित है और सरकारी दफ्तर में निचले दर्जे में कार्यरत है। जो अपने हाई स्कूल पास बेटे की नौकरी और बेटी के ब्याह चिंता लिए है। ऑफिस में नए अफसर के आ जाने से उसके ह्रदय में एक आशा की किरण उभर जाती हैं क्योंकि अफसर उसी की जात का है, इस तरह भोलाराम बेटे की नौकरी के लिए आशावादी हो जाता है। अपनी पत्नी कलिया को जब भोलाराम ये बात बताता है तो उसे विश्वास नहीं होता की उनकी जात का भी कोई अफसर बन सकता है (चूँकि इस समाज की बनावट ऐसी है की वर्ण व्यवस्था में दलितों के साथ अमानवीय पेशे जोड़ दिए जाते हैं) आश्चर्य से वो पूछती है- "पर इतना बड़ा साब और म्हारी जात का" उसका स्वर अब भी सवालिया बन हुआ था। हाँ, हाँ म्हारी जात का ही, मुझे हेड ऑफिस से पता चला है, सुना है यूपी से ट्रांसफर होकर आया है, भोला नए साब के बारे में एक-एक बात बतला देना चाहता था। "तुने देखा क्या..? कलिया का अगला सवाल था। हाँ, हाँ, देखा क्यों न, म्हारा साब और हमी न देखे भला। अरे राजू की माँ मैं तो उनके कमरे में जाकर सलाम भी मार आया दिन में। "पर कैसा है म्हारी जात का साब ?" कलिया को अब भी उसकी बातों में रस आने लगा था। जैसे दूसरी साब, वैसे ही म्हारी जात का साब, अरे किसी से कम थोडे है।"[8] लेकिन बहुत जल्द ही भोलाराम की उम्मीद, ना उम्मीदी में बदल गयी जब बड़े साब ने शैड्यूल कास्ट एसोसिएशन की मीटिंग में जाने से मना कर दिया। भोलाराम समझ चूका था की जिस अफसर ने इतने बड़े एसोसिएशन की मीटिंग का निमंत्रण ठुकरा दिया "उस साहब के लिए वह बुढा अदना सा चपरासी क्या मोल रखता है।"[9] जातिवादी अत्याचार या सरकारी दबाव दलित समाज की प्रगति में विभीषिका बना हुआ है, न चाहते हुए भी बड़े साहब को इस जाति के झमेले से बचना चाहते थे, बड़े बाबू को मीटिंग में न जाने का तर्क देते हुए बोले– "एसोसिएशन बनाना झमेला नहीं, पर मुझे लगता है की इस तरह की मीटिंग में मेरा जाना ..."आगे के शब्द वह खा गए, जैसा अफसरों का स्वभाव होता है। अब तक बड़े बाबू चुप थ, उन्हें अंत बोलना ही पड़ा "सर हमने तो आपको इसलिए अपने बीच बुलाया था की आप अपने आदमी हैं, पर".."नहीं बड़े बाबू, ऐसी बात नहीं, आप सब बुलाएंगे, तो जाना ही चाहिए पर हमारे लिए भी सरकार ने कुछ नियम - कायदे बना रखें हैं।"[10]

सरकारी महकमों पर ऊँचे पदों पर नियुक्त अफसरों के लिए भी विडम्बना ही है की अपने ओहदे की मर्यादा और प्रमोशन के लिए उन्हीं जाति और अन्य कई मसलों पर पक्षपाती होना पड़ता है- "पिछले बारह वर्षों के दौरान आई.ए.एस. कैडर में रहते हुए इतना तो वह सीख ही चुके थे। नौकरशाही में दूध जैसी छवि बनाकर रखना कोई हंसी-खेल नहीं। कभी-कभी अपनी जाति तथा परिवार के लोगो से भी दरकिनार करना पड़ता है। आई.ए.एस. अधिकारियों के प्रमोशन इसी बात पर निर्भर करते हैं ।"[11]

इस कहानी के नाम की सार्थकता कहानी का अंत हैं जहाँ दफ्तर के सफाई कर्मचारी बदलू का बेटा पिता के रिटायरमेंट के बाद झाड़ू लगाने का काम करने लगता हैं और बड़े साब को आते जाते नमस्ते करता है। यह वह पल है जब साब शर्म और ग्लानि से अधिक सरकारी नियम कानून में स्वयं को बंधा पाते हैं और ऐसी अवस्था में न

वो उसे नमस्ते कहने को मना कर सकते हैं न ही उससे नज़रें मिला सकते हैं। उनके हृदय में अपनी जात के प्रति संवेदना के साथ ही अपने भविष्य की चिंता दोनों ही है। अंतिम पंक्तियाँ सिमटे हुए दलित अफसर की मजबूरी को, एक जात के दर्द को, कुछ न कर पाने की असमर्थता को बखूबी बयान करती है- "पर बड़े साहब देरी से घर की ओर लौटते। ऑफिस के कार्यों से फुर्सत पा जब कभी वो नीचे आते, बदलू का बेटा झाड़ू लिए उन्हें 'नमस्ते' करना नहीं भूलता। उन्हें बुरा लगता। मना भी करें, तो कैसे, बच कर भी नहीं निकल पाते थे। वह बहुत कुछ सिमट गए थे। इसके बावजूद और भी सिमटना चाहते थे।"[12]

सं.2007 के सितम्बर अंक में दलित लेखक अजय नावरिया की कहानी 'चियर्स' हंस पत्रिका में प्रकाशित हुई। इस कहानी की शुरुआत शिक्षा संस्थानों के भीतर सवर्ण वर्चस्व को चुनौती देने से होती है। यह कहानी सरकारी स्कूल के इर्द-गिर्द घुमती हैं। जहाँ कई वर्षों से निर्विवाद रुप से स्टाफ सेक्रेटरी के पद पर ब्राह्मण शुक्ला का कब्ज़ा है। मगर इस साल चुनाव से पहले आरक्षण और वैचारिक रुप से अन्य स्टाफ जागरूक हो चुके हैं। पचपन लोगो के स्टाफ जिसमें बीस एस.सी, एस. टी, सात गूजर, दो जैन, एक मुसलमान, तीन ठाकुर, दो जाट, चार बनिया, छह रिफ्यूज़ी एक नाई, दो माली, एक कुर्मी और बाकी पाँच ब्राह्मण है। इतने वर्षों में पहली बार दलित स्टाफ ने तय किया की इस बार सेक्रेटरी के चुनाव में उनका भी उम्मीदवार होना चाहिए। नौकरी में आरक्षण के कारण चूँकि अब स्टाफ में सभी समुदायों की उपस्थिति हैं। जिसका श्रेय स्टाफ के शर्मा जी मंडल आयोग को देते हुए कहते हैं-"पंद्रह बीस साल पहले इतनी विविधता नहीं रही होगी शायद। मैंने वर्मा की तरफ देखा था, जिसका ध्यान कहीं और था, जिसका पता उनकी आँखें दे रहीं थी। 'सच में ..तब तो सब बामन ही बामन थे, मंडल के बाद बदला है सब' वर्मा ने साफ़ किया की वो वहीं हैं और इसमें शामिल हैं ।"[13] इसके जवाब में कहानीकार कहता है- "विविधता ने हमेशा वर्चस्व की ध्वस्त किया है।" [14]

अर्थात वर्चस्व ब्राह्मणों का है, अन्य समुदायों के आने पर जो अब टूट रहा हैं। इस बात से सभी सहमत होकर ब्राह्मण शुक्ला की जगह में रामपाल को जो जाति से गूजर है अपना प्रतिनिधि चुनते हैं। चूँकि प्रिन्सिपल स्वयं ब्राह्मण है तो किसी और समुदाय के सेक्रेटरी बन जाने को लेकर चिंतित है। मतदान में गूजर रामपाल की जीत हुई। इस बात का जश्न मानते हुए सी लाल बोले -"रामे, सबसे बड़ी ख़ुशी की बात ये है कि तेरे सेक्रेटरी बनने से यह पोस्ट बामण से खिसककर कुछ तो नीचे की तरफ आई' सी. लाल खड़े हो गए थे उन्होंने अपने हाथ में पकड़ा गिलास, अपने सिर तक उठाकर जोर से कहा, चियर्स फॉर थे विक्ट्री।"[15]

इसके साथ ही नावरिया ने कुछ अनावश्यक बिम्बों को कहानी में स्थान दिया। जिससे ऐसा प्रतीत होता हैं की दलित विचारधारा मुक्ति और समानता की धारा न होकर प्रतिशोध का भाव लिए हो। जैसे गुजर रामपाल की जीत पर प्रिंसिपल के चेहरे की तुलना स्त्री बिम्ब से करना -"उधर प्रिन्सिपल का चेहरा, ऐसे फ़क्क पड़ गया था, जैसे किसी ने उनके सामने उनकी बेटी के गाल पर हाथ फेर दिया हो।"[16]

दलित समुदाय अपनी सामूहिक पहचान के बावजूद अपने भीतर भी जाति के आधार पर बंटा हुआ है। ये कहानी इसी बात को आधार बना कर लिखी गई है। नावरिया ने अपनी इस कहानी के माध्यम से जहाँ एक तरह ब्राह्मणों या सवर्ण मानसिकता को दर्शाया हैं वही दूसरी तरफ दलितों के अंतर्द्वंद्व को भी उजागर किया हैं। इस कहानी में दलित विमर्श से अधिक प्रगतिशील सोच की झलक दिखाई देती हैं।

लम्बी कहानियों के अतिरिक्त इन पत्रिकाओं ने दलित लघु कथाएँ भी प्रकाशित की। जिनमें एस.एल मीणा की लघु कथा 'मुर्दाशुमारी'- हंस,नवम्बर,1993, हरिराम कहार की 'सुख सागर' - हंस,जून,1996, सूरजपाल सिंह की 'नीच जाति'-हंस,अक्तूबर,2006, हरिराम कहार की 'दया ही दुःख'-हंस जून,2007, राज वाल्मीकि की 'आँखों में पट्टी-हंस मई 2009 आदि। इन लघु कथाओं ने सवर्ण समाज के जातीय अत्याचारों को दलितों में संघर्ष चेतना, आत्मसम्मान का भाव जागृत करने का कार्य किया। बार-बार हाशिये पर धकेल दिए जाने के कारण उनके भीतर के प्रतिरोध को दिशा प्रदान करती ये लघु कथाएँ गागर में सागर लिए हुए हैं।

निष्कर्ष : 1990 से 2010 के कालखंड में साहित्यिक पत्रिका 'हंस' में प्रकाशित कहानियाँ हिंदी साहित्य में

दलित विमर्श को सशक्त और सुव्यवस्थित स्वर प्रदान करती हैं। ये कहानियाँ न केवल दलित समाज की पीड़ा, शोषण और उपेक्षा को उजागर करती हैं, बल्कि सामाजिक अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध और आत्मसम्मान की चेतना को भी मुखर करती हैं। 'हंस' ने दलित अनुभवों को साहित्य के केंद्र में लाकर उस वर्चस्ववादी साहित्यिक दृष्टिकोण को चुनौती दी जो लंबे समय तक दलित जीवन की वास्तविकताओं से विमुख रहा।

इस कालखंड की कहानियों में दलित पात्रों को निष्क्रिय पीड़ित के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना से टकराने वाले जागरूक और संघर्षशील व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जातिगत भेदभाव, आर्थिक शोषण, सामाजिक बहिष्कार और संस्थागत अन्याय जैसे विषयों का यथार्थपरक चित्रण इन रचनाओं को सामाजिक दस्तावेज़ का स्वरूप प्रदान करता है। साथ ही, इन कहानियों में अभिव्यक्त प्रतिरोध की भावना साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम बनाती है।

भाषा और शिल्प की दृष्टि से भी 'हंस' में प्रकाशित दलित कहानियाँ पारंपरिक साहित्यिक ढाँचों को तोड़ती हैं और जीवन के अनुभवों से उपजी सहज, प्रभावी तथा संवेदनशील अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती हैं। यह साहित्य न केवल सौंदर्यबोध का विस्तार करता है, बल्कि पाठक को सामाजिक यथार्थ से सीधे संवाद करने के लिए प्रेरित करता है।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 1990 से 2010 के बीच 'हंस' पत्रिका ने दलित विमर्श को हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस पत्रिका में प्रकाशित कहानियाँ समकालीन हिंदी साहित्य की वैचारिक समृद्धि के साथ-साथ सामाजिक समानता और न्याय की दिशा में सार्थक हस्तक्षेप के रूप में देखी जा सकती हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश (दिसम्बर,1992), बैल की खाल, हंस, पृ.-35
2. वही,पृ .-36.
3. वही, पृ.-36.
4. वही, पृ.-36.
5. वाल्मीकि, ओमप्रकाश (अगस्त-सितम्बर 1997), प्रमोशन, हंस, पृ.-41.
6. सांभरिया रत्न कुमार (जुलाई, 2007), बिपूर सूदर एक कीने, जुलाई, हंस, पृ.-31.
7. वही, पृ.-31.
8. नैमिशराय, मोहनदास (मई,1996), सिमटा हुआ आदमी, हंस, पृ-25.
9. वही, पृ.-25.
10. वही,पृ .-28.
11. वही, पृ.-27.
12. वही, पृ.-28.
13. नावरिया, अजय (सितम्बर 2007), चियर्स, हंस, पृ.-28.
14. वही, 28.
15. वही, पृ.-35.
16. वही, 35.

•